मैं नास्तिक क्यों हूँ
और
`ड्रीमलैण्ड' की भूमिका

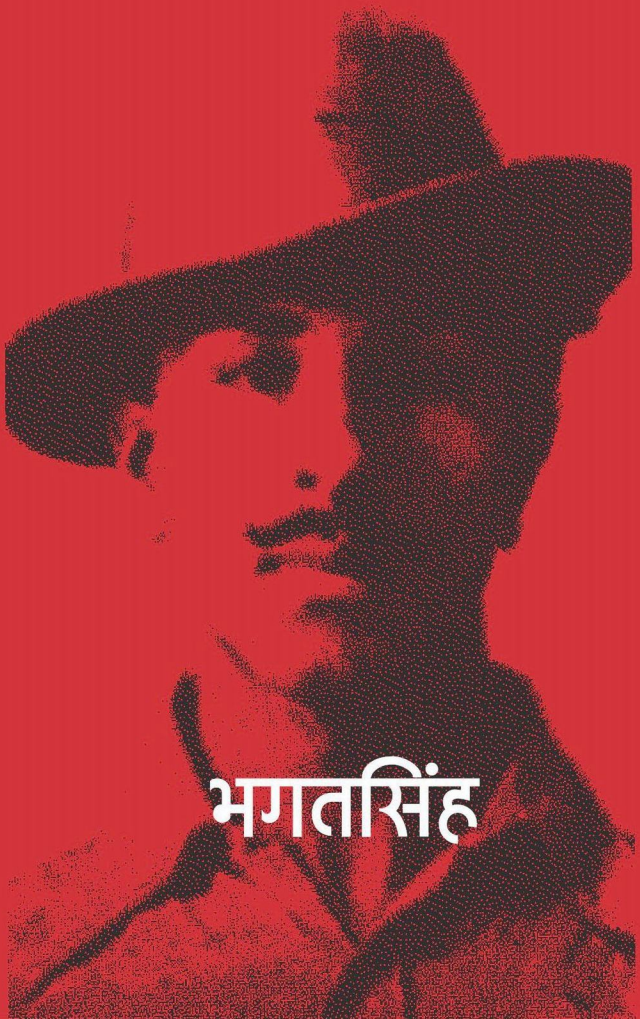

भगतसिंह

मैं नास्तिक क्यों हूं
और
'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका

भगतसिंह

राहुल फ़ाउण्डेशन
लखनऊ

इन्क़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ होती है!

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण जनवरी 2004 को परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। जनवरी 2008 से इसका प्रकाशन राहुल फ़ाउण्डेशन द्वारा किया जा रहा है।

ISBN 978-81-907310-3-4

मूल्य : रु. 5.00

पहला संस्करण : जनवरी, 2009

प्रकाशक : **राहुल फ़ाउण्डेशन**
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ–226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : **रामबाबू**

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस–28, शक्तिनगर, लखनऊ

Main Nastik Kyon Hoon *by* ***Bhagat Singh***

प्रस्तावना

हिन्दुस्तानी इन्क़लाब के सबसे बड़े प्रतीक शहीदेआज़म भगतसिंह की फाँसी के बाद 73 वर्ष और उस आज़ादी के बाद 57 वर्ष का समय बीत चुका है, जो हमें कांग्रेस के नेतृत्व में मिली।

भगतसिंह ने बार-बार यह चेतावनी दी थी कि कांग्रेस के रास्ते पर चलकर मिलने वाली आज़ादी 10 फ़ीसदी ऊपर के लोगों की आज़ादी होगी, पूँजीपतियों-साहूकारों की आज़ादी होगी; देश के 90 फ़ीसदी मज़दूरों-किसानों की ज़िन्दगी को शोषण और लूट से आज़ादी नहीं मिलेगी। इन 57 वर्षों के एक-एक दिन ने उस नौजवान की चेतावनी को सच साबित किया है। लुटेरों की चमड़ी का रंग बदल गया है, पर लूट बन्द होना तो दूर और तेज़ होती गयी है।

आधी सदी से कुछ अधिक के भीतर देशी पूँजीवादी सत्ता की गोलियों ने उससे अधिक जनता का ख़ून बहाया है, जितना दो सौ वर्षों के दौरान अंग्रेज़ों ने बहाया था। कहने को जनतन्त्र है, पर अन्यायी सत्ता के विरुद्ध उठने वाली हर आवाज़ को, हर आन्दोलन को कुचल देने के लिए न तो नये-नये काले क़ानूनों की कमी है, न जेलों, पुलिस और फ़ौज की। प्रतिदिन देश के किसी न किसी कोने में छात्रों, मज़दूरों या किसानों पर गोलियाँ चल रही हैं।

देश विदेशी क़र्ज़ से लदा है। एक ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जगह दर्जनों विदेशी डाकू देशी धन्नासेठों के साथ मिलकर भारत की जनता की मेहनत को और हमारी इस सर्वगुणसम्पन्न धरती को लूट रहे हैं। ऊपर के क़रीब सौ बड़े पूँजीपति घरानों की पूँजी में दोगुने-चौगुने की नहीं बल्कि दो सौ गुने से लेकर चार सौ गुने तक की बढ़ोत्तरी हुई है जबकि दूसरी ओर आधी आबादी को शिक्षा और दवा-इलाज तो दूर, भरपेट भोजन भी मयस्सर नहीं है। 1947 में देश को जो अधूरी और विकलांग आज़ादी मिली, उसका पूरा फ़ायदा सिर्फ़ ऊपर की बीस फ़ीसदी धनिक आबादी को ही मिला है जो पूँजीपतियों की चाकरी बजाती है और साम्राज्यवादियों के तलवे चाटने के लिए तैयार है।

देश के नौजवानों ने बहुत इन्तज़ार कर लिया। बहुत दिनों तक घुट-घुटकर जी लिया। इस या उस चुनावबाज़ पार्टी से बदलाव की उम्मीदें पालकर बहुत धोखा खा लिया। अब उन्हें सोचना ही होगा कि अब और कितना छले जायेंगे? अब और कितना बर्दाश्त करेंगे? दुनियादारी के भँवरजाल में कब तक फँसे रहेंगे? कितने दिन तक चुनौतियों से आँखें चुरायेंगे? उन्हें भगतसिंह के सन्देश को सुनना होगा! नयी क्रान्ति की राह पर चलने के लिए वक़्त आवाज़ दे रहा है। उसे सुनना होगा!

यहाँ भगतसिंह के जो दो लेख दिये जा रहे हैं वे वैचारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से पहला लेख 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' भगतसिंह ने अपने अन्तिम दिनों में फाँसी की कालकोठरी में लिखा था और यह पहली बार लाहौर से छपने

वाले अंग्रेज़ी पत्र 'द पीपुल' में 1931 में छपा था। गदर पर्टी के क्रान्तिकारी लाला रामसरन दास की किताब 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका के रूप में दूसरा लेख भी जनवरी 1931 में फाँसी की कालकोठरी में ही लिखा गया था।

'मैं नास्तिक क्यों हूँ' में भगतसिंह ने सृष्टि के विकास और गति की भौतिकवादी समझ पेश करते हुए उसके पीछे किसी मानवेतर ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व की परिकल्पना को वैज्ञानिक ढंग से निराधार सिद्ध किया है। 'ड्रीमलैण्ड की भूमिका' में कृति की समीक्षा करते हुए भगतसिंह ने समाज-व्यवस्था, जीवन, क्रान्ति और भावी समाज के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे उनकी विकसित हो रही वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि का पता देते हैं। साथ ही इसमें उन्होंने अपने से पहले के क्रान्तिकारी आन्दोलन और उसकी विचारधारा की जो समीक्षा की है वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पुराने क्रान्तिकारी मध्यमवर्गीय आतंकवाद के विचारों से नाता तोड़कर भगतसिंह आगे बढ़ चुके थे।

आज भी नौजवानों में जो तरह-तरह के प्रतिगामी विचार, अवैज्ञानिक दृष्टिकोण, अन्धविश्वास, नियतिवाद आदि व्याप्त हैं, उन्हें देखते हुए भगतसिंह के ये दोनों लेख आज भी बहुत प्रासंगिक हैं। ये लेख हमें भारतीय मुक्तिसंघर्ष के इतिहास में क्रान्तिकारी आन्दोलन और भगतसिंह के बारे में नये सिरे से सोचने के लिए विवश तो करते ही हैं, क्रान्तिकारी वैज्ञानिक चिन्तन की विरासत को आगे बढ़ाने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

1 जनवरी 2004

मैं नास्तिक क्यों हूँ?

(भगतसिंह जब लाहौर जेल में थे, तब गदर पार्टी से सम्पर्क रखने के अपराध में भाई रणधीरसिंह भी क़ैद भुगत रहे थे। भाई रणधीरसिंह की अपनी रिहाई से कुछ दिन पहले भगतसिंह से भेंट हुई। गदरी बाबाओं – बाबा हरनामसिंह कालासन्धिया व तेजासिंह चूहड़काना ने यह भेंट करवाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। भाई रणधीर सिंह ने एक बार यह कहकर कि भगतसिंह ने केश कटा दिये हैं, उनसे मिलने से इंकार कर दिया था। इसके उत्तर में पत्र लिखकर भगतसिंह ने कहा था, "मैं सिख धर्म की अंग-अंग कटवाने की परम्परा का कायल हूँ। अभी तो मैंने एक ही अंग (केश) कटवाया है – यह भी पेट के लिए नहीं, देश के लिए – जल्दी ही गर्दन भी कटवाऊँगा। लेकिन एक सिख की तंगनज़री व तंगदिली का गिला ज़रूर रहेगा।"

इसके बाद भाई साहिब मुलाकात के लिए आये।

एक बार इसी विषय पर चर्चा करते हुए भगतसिंह ने बाबा सोहनसिंह भकना से कहा था, "हमारी पुरानी विरासत के दो पक्ष होते हैं, एक सांस्कृतिक और दूसरा मिथकीय। मैं सांस्कृतिक गुणों, जैसे – निष्काम देश-सेवा, बलिदान, विश्वासों पर अटल रहना – को पूरी सच्चाई से अपनाकर आगे बढ़ने की कोशिश में हूँ, लेकिन मिथकीय विचारों को, जो कि पुराने समय की समझ के अनुरूप हैं, वैसे का वैसा मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हूँ, क्योंकि विज्ञान ने ज्ञान में ख़ूब वृद्धि की है और वैज्ञानिक विचार अपनाकर ही भविष्य की समस्याएँ हल हो सकती हैं।" साम्प्रदायिक तत्व यह कोशिश करते रहे हैं कि भगतसिंह के विचारों में गंदलापन लाया जाये, लेकिन ऐसा करना सम्भव नहीं है।

इस दस्तावेज़ की रचना 5-6 अक्तूबर, 1930 को हुई थी। यह पहली बार लाहौर से प्रकाशित अंग्रेज़ी पत्र 'द पीपुल' के 27 सितम्बर 1931 के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस महत्त्वपूर्ण लेख में भगतसिंह ने सृष्टि के विकास और गति की भौतिकवादी समझ पेश करते हुए उसके पीछे किसी मानवेतर ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व की परिकल्पना को वैज्ञानिक ढंग से

निराधार सिद्ध किया है।)

एक नया सवाल उठ खड़ा हुआ है। क्या मैं अहम्मन्यता के कारण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता हूँ? मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे कभी ऐसे सवाल का सामना करना पड़ेगा। लेकिन कुछ मित्रों से हुई बातचीत में मुझे यह संकेत मिला कि मेरे कुछ दोस्त – अगर उन्हें दोस्त मान कर उन पर मैं बहुत ज़्यादा अधिकार नहीं जता रहा हूँ तो – मेरे साथ के अपने थोड़े से सम्पर्क से इस नतीजे पर पहुँचना चाहते हैं कि मैं ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर बड़ी ज़्यादती कर रहा हूँ और यह कि मुझमें कुछ अहम्मन्यता है जिसने मुझे इस अविश्वास के लिए प्रेरित किया है।

बहरहाल, समस्या गम्भीर है। मैं ऐसी शेखी नहीं बघारता कि मैं इन मानवीय कमजोरियों से एकदम ऊपर हूँ। मैं एक मनुष्य हूँ, इससे ज़्यादा कुछ होने का दावा कोई भी नहीं कर सकता। सो मुझमें भी यह कमज़ोरी है। सचमुच अहम्मन्यता मेरे स्वभाव का एक अंग है। अपने साथियों के बीच मुझे निरंकुश कहा जाता था। यहाँ तक कि मेरे मित्र श्री बी.के. दत्त भी कभी-कभी मुझे निरंकुश कहा करते थे। कई अवसरों पर तानाशाह कह कर मेरी निन्दा की गयी। कुछ मित्रों को सचमुच यह शिकायत है, और गम्भीर शिकायत है, कि मैं अनजाने ही अपने विचार दूसरों पर थोपता हूं और अपनी बातें जबरन मनवा लेता हूँ। मैं इनकार नहीं करता कि एक हद तक यह बात सच है। इसे अहम्मन्यता भी कहा जा सकता है। जितनी अहम्मन्यता अन्य लोकप्रिय मतों के मुकाबले हमारे मत में है, उतनी मुझमें भी है। मगर वह निजी नहीं है। हो सकता है, हमारे मत में यह केवल एक समुचित गर्व हो और इसे अहम्मन्यता न माना जाता हो। अहम्मन्यता, अथवा और ज़्यादा ठीक-ठीक कहें तो अहंकार, किसी को अपने ऊपर हो जाने वाले अनुचित गर्व का नाम है। यहाँ मैं जिस सवाल पर चर्चा करना चाहता हूँ, वह यही है कि क्या मैं नास्तिक इसलिए बन गया हूँ कि मुझे अपने ऊपर ऐसा अनुचित गर्व है? अथवा इस विषय के सचेत अध्ययन और काफ़ी सोच-विचार के बाद मैंने ईश्वर में विश्वास करना छोड़ा है? वैसे, मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि अहंकार और अहम्मन्यता दो भिन्न चीज़ें हैं।

अव्वल तो मैं यह बात कतई नहीं समझ सका कि अनुचित गर्व या मिथ्या दम्भ किसी को आस्तिक बनने से कैसे रोक सकता है। वास्तव में मैं किसी महान व्यक्ति की महानता से इनकार कर सकता हूँ, बशर्ते कि वैसी योग्यता न होने पर भी, अथवा महान होने के लिए वास्तव में आवश्यक या अनिवार्य गुण न होने पर भी, मुझे किसी हद तक वैसी ही लोकप्रियता मिल जाये। यहाँ तक तो बात समझ में आती है। मगर

यह कैसे हो सकता है कि कोई आस्तिक निजी अहम्मन्यता के कारण ईश्वर में विश्वास करना छोड़ दे? दो ही बातें हो सकती हैं : आदमी या तो स्वयं को ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी समझने लगे या यह मानने लगे कि वह स्वयं ही ईश्वर है। लेकिन इन दोनों ही स्थितियों में वह सच्चा नास्तिक नहीं बन सकता। पहली स्थिति में वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के अस्तित्व से इनकार ही नहीं करता, दूसरी स्थिति में भी वह एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करता है जो अदृश्य रहकर प्रकृति की तमाम क्रियाओं को निर्देशित करती है। हमारे लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि वह स्वयं को सर्वोच्च सत्ता समझता है अथवा किसी सर्वोच्च सचेत सत्ता को स्वयं से अलग समझता है। मूल बात ज्यों की त्यों है। उसका विश्वास ज्यों का त्यों है। वह किसी भी तरह से नास्तिक नहीं है।

बहरहाल, मेरी बात मान लीजिये। मैं न तो पहली श्रेणी में आता हूँ न दूसरी में। मैं उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के अस्तित्व से ही इनकार करता हूं। क्यों इनकार करता हूँ, इसकी चर्चा बाद में करूँगा। यहाँ मैं केवल यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि नास्तिकता के सिद्धान्तों को अपनाने की दिशा में मुझे मेरी अहम्मन्यता ने प्रेरित नहीं किया है। मैं न तो ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी हूँ न उसका अवतार, न स्वयं परमात्मा। पक्की बात है कि अहम्मन्यता ने मुझे ऐसा सोचने के लिए प्रेरित नहीं किया है। इस आरोप को मिथ्या सिद्ध करने के लिए मुझे तथ्यों की जाँच-पड़ताल करने की इजाजत दीजिये। मेरे इन दोस्तों के मुताबिक दिल्ली बम काण्ड और लाहौर षडयन्त्र काण्ड के कारण चले मुक़दमों के दौरान मुझे जो आवश्यक लोकप्रियता मिल गयी है, शायद उसी ने मुझमें मिथ्या दम्भ पैदा कर दिया है। खैर, देख लेते हैं कि उनकी बात सही है या नहीं।

मेरी नास्तिकता इतनी नयी चीज़ नहीं। मैंने तो ईश्वर को मानना तभी बन्द कर दिया था जब मैं एक अज्ञात नौजवान था और मेरे उपर्युक्त मित्रों को मेरे अस्तित्व का पता भी नहीं था। कम से कम कालेज का एक छात्र ऐसा अनुचित गर्व नहीं पाल सकता जो उसे नास्तिक बना दे। हालाँकि कुछ प्रोफेसर मुझे पसन्द करते थे और कुछ नापसन्द, पर मैं कभी भी परिश्रमी या पढ़ाकू लड़का नहीं रहा। अहम्मन्यता जैसी भावनाएँ पालने का मेरे लिए कोई मौका नहीं था। मैं तो बड़े शर्मीले स्वभाव का लड़का था और अपने भविष्य को लेकर कुछ निराशावादी ख़यालों में खोया रहता था। और उन दिनों मैं पक्का नास्तिक नहीं था। मेरे दादा, जिनके प्रभाव में मेरा पालन-पोषण हुआ, कट्टर आर्यसमाजी हैं। आर्यसमाजी और चाहे कुछ भी हो, नास्तिक नहीं होता। अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद मैं लाहौर के डी.ए.वी. स्कूल में दाखिल हुआ और वहाँ के बोर्डिंग हाउस में पूरे एक साल तक रहा। वहाँ सुबह और शाम की

प्रार्थनाओं के अलावा भी मैं घण्टों गायत्री मन्त्र जपता रहता था। उन दिनों मैं पूरा भगत थ। आगे चलकर मैं अपने पिता के साथ रहने लगा। जहाँ तक धार्मिक कट्टरता का सवाल है, वे उदारतावादी हैं। उन्हीं के उपदेशों से मुझमें आज़ादी के उद्देश्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। लेकिन वे नास्तिक नहीं हैं। वे मुझे प्रतिदिन संध्या उपासना करने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। इस ढंग से मेरा पालन-पोषण हुआ। असहयोग आन्दोलन के दिनों में मैं नेशनल कालेज में दाखिल हुआ। वहीं जाकर मैने उदारतावादी ढंग से सोचना और सारी धार्मिक समस्याओं के बारे में, यहाँ तक कि ईश्वर के बारे में भी, बहस और आलोचना करना शुरू किया। मगर ईश्वर में मेरा अब भी पक्का विश्वास था। अब, मैं बिना कटे-छँटे दाढ़ी और केश रखने लगा था, मगर मैं सिख मत या किसी अन्य धर्म के मिथकों और सिद्धान्तों में विश्वास कभी नहीं कर पाया। फिर भी ईश्वर के अस्तित्व में मेरी पक्की आस्था थी।

आगे चलकर मैं क्रान्तिकारी दल में शामिल हुआ। सबसे पहले मैं जिन नेता के सम्पर्क में आया, वे ईश्वर को मानते तो नहीं थे, लेकिन उसके अस्तित्व को नकारने का साहस उनमें नहीं था। मैं ईश्वर के बारे में लगातार उनसे प्रश्न करता जाता तो वे कह दिया करते थे, "जब तुम्हारा मन करे, प्रार्थना कर लिया करो।" अब यह तो ऐसी नास्तिकता हुई कि नास्तिक बनने चले हैं और नास्तिक बनने की हिम्मत आप में नहीं। मैं जिन दूसरे नेता के सम्पर्क में आया, वे आस्तिक थे। उनका नाम बता ही दूँ - वे थे आदरणीय साथी शचीन्द्रनाथ सान्याल, जो कराची षड्यन्त्र काण्ड के सिलसिले में आजीवन कालेपानी की सजा भुगत रहे हैं। उनकी प्रसिद्ध और एकमात्र पुस्तक 'बन्दी-जीवन' में पहले पृष्ठ से ही ईश्वर की महिमा का ज़बरदस्त गुणगान किया गया है। उस ख़ूबसूरत किताब के दूसरे भाग के अन्तिम पृष्ठ पर अपने वेदान्तवाद के कारण उन्होंने ईश्वर को जो रहस्यवादी स्तुतियाँ गायी हैं, वे उनके विचारों का बड़ा अजीबोग़रीब हिस्सा हैं। 28 जनवरी, 1926 को जो क्रान्तिकारी पर्चा पूरे भारत में बाँटा गया था, वह मुक़दमे के काग़ज़ात के अनुसार उन्हीं के मानसिक श्रम का परिणाम था। अब यह तो होता ही है कि गुप्त कारवाई में प्रमुख नेता अपने उन निजी विचारों को व्यक्त कर डालता है जो उसे निजी तौर पर बहुत प्रिय होते हैं, और शेष कार्यकत्ताओं को मतभेदों के बावजूद उन विचारों से मौन सहमति प्रकट करनी पड़ती है। उस पर्चे में एक पूरा पैराग्राफ सर्वशक्तिमान ईश्वर की लीला और करनी की प्रशंसा से भरा हुआ था। वह सब रहस्यवाद है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि नास्तिकता का विचार क्रान्तिकारी दल में भी पैदा नहीं हुआ था। काकोरी काण्ड के चारों विख्यात शहीदों ने अपना अन्तिम दिन प्रार्थनाएँ

करते हुए बिताया था। रामप्रसाद बिस्मिल कट्टर आर्यसमाजी थे। समाजवाद और साम्यवाद के अपने विस्तृत अध्ययन के बावजूद राजेन्द्र लाहिड़ी उपनिषदों और गीता के श्लोकों का पाठ करने की अपनी इच्छा को दबा नहीं सके थे। उन लोगों में मैंने सिर्फ़ एक आदमी ऐसा देखा जो कभी प्रार्थना नहीं करता था और कहा करता था कि "दर्शन मानवीय दुर्बलता या सीमित ज्ञान से पैदा होता है।" वह भी आजीवन कालेपानी की सजा भुगत रहा है। लेकिन ईश्वर के अस्तित्व को नकारने का साहस वह भी कभी नहीं जुटा सका।

तब तक मैं रूमानी आदर्शवादी क्रान्तिकारी ही था। तब तक हम केवल अनुयायी थे, आगे चल कर पूरी ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठाने का समय आया। अनिवार्यत: प्रतिक्रिया इतनी ज़बरदस्त थी कि कुछ समय तक तो दल का अस्तित्व ही असम्भव लगता रहा। उत्साही साथी, नहीं-नहीं, नेता हमारा मजाक उड़ाने लगे। कुछ समय तक मुझे ऐसा लगता रहा कि कहीं मैं भी अपने कार्यक्रम को व्यर्थ न मानने लगूँ। यह मेरे क्रान्तिकारी जीवन का एक मोड़ था। मेरे दिमाग़ के हर कोने-अंतरे से एक ही आवाज़ रह-रह कर उठती - "अध्ययन करो। स्वयं को विरोधियों के तर्कों का सामना करने लायक बनाने के लिए अध्ययन करो!" "अपने मत के समर्थन में तर्कों से लैस होने के लिए अध्ययन करो!"

मैंने अध्ययन करना शुरू किया, उससे मेरी पूर्ववर्ती आस्थाओं और मान्यताओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। केवल हिंसात्मक उपायों में विश्वास रखने का रूमानीपन, जो हमसे पहले के लोगों पर हावी था, दूर हो गया और उसका स्थान गम्भीर विचारों ने ले लिया। रहस्यवाद और अन्धविश्वास के लिए अब कोई गुंजाइश नहीं रही। यथार्थवाद हमारा मत बन गया। अब हमारी समझ में आया कि शक्ति का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होने पर ही उचित है और आम जनता के तमाम आन्दोलनों के लिए अहिंसा की नीति अपरिहार्य है। यह तो हुई तरीक़ों की बात। सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी उस आदर्श की स्पष्ट अवधारणा जिसके लिए हमें लड़ना था। चूंकि उस समय सक्रियता के स्तर पर कोई खास गतिविधियाँ नहीं थीं, इसलिए विश्व-क्रान्ति के विभिन्न आदर्शों का अध्ययन करने के अवसर मुझे ख़ूब मिले। मैंने अराजकतावादी नेता बाकुनिन को पढ़ा, थोड़ा-सा साम्यवाद के जनक मार्क्स को पढ़ा, और अपने देश में सफलतापूर्वक क्रान्ति करने वाले लेनिन, त्रात्स्की तथा अन्य लोगों को ख़ूब पढ़ा। ये सब नास्तिक थे। बाकुनिन की पुस्तक 'ईश्वर और राज्य' अधूरी-सी होने के बावजूद इस विषय का एक रोचक अध्ययन है। बाद में निर्लम्ब स्वामी की पुस्तक 'सहज ज्ञान' मेरे पढ़ने में आयी। उसमें महज एक रहस्यवादी नास्तिकता थी। अब यह विषय मेरे लिए सबसे ज़्यादा रोचक बन गया। 1926 के अन्त तक मैं इस बात का

कायल हो गया कि सारी दुनिया को बनाने, चलाने और नियन्त्रित करने वाली सर्वशक्तिमान परमसत्ता के अस्तित्व का सिद्धान्त निराधार है। मैंने अपने अविश्वास के बारे में दूसरों को बता भी दिया था। मित्रों के साथ मैं इस विषय पर बहस करने लगा। मैं घोषित रूप से नास्तिक बन चुका था। मगर इसका मतलब क्या था, इसकी चर्चा नीचे की जा रही है।

मई 1927 में लाहौर में मेरी गिरफ़्तारी हुई। गिरफ़्तारी अचानक हुई। मुझे जरा भी अन्देशा नहीं थी कि पुलिस मेरी तलाश में है। अचानक एक बाग में से गुज़रते हुए मैंने पाया कि मैं पुलिस द्वारा घेर लिया गया हूँ। मुझे खुद इस बात की हैरानी है कि मैं उस समय एकदम शान्त रहा। न तो मुझे कोई घबराहट हुई, न मैंने किसी उत्तेजना का अनुभव किया। मुझे हिरासत में ले लिया गया। अगले दिन मुझे रेलवे पुलिस की हवालात में ले जाया गया जहाँ मैंने पूरा एक महीना गुज़ारा।

पुलिस अफ़सरों से कई दिन की बातचीत के बाद मैंने अनुमान लगाया कि उन्हें काकोरी दल से मेरे सम्बन्ध होने तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित मेरी अन्य गतिविधियों के बारे में कुछ जानकारी है। उन्होंने मुझे बताया कि जिन दिनों मुक़दमा चल रहा था, मैं लखनऊ गया था; कि मैंने अभियुक्तों से मिलकर उन्हें छुड़ाने की योजना बनाई थी; कि उनकी अनुमति पाकर हम लोगों ने कुछ बम जमा किये; कि जाँच के तौर पर उनमें से एक बम 1926 के दशहरे के दिन भीड़ में फेंका गया था, फिर उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम क्रान्तिकारी दल की गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए एक बयान दे दो, इससे तुम्हें जेल में नहीं डाला जायेगा। बल्कि अदालत में मुखबिर बतौर पेश किये बिना ही तुम्हें छोड़ दिया जायेगा। मैं उनके इस प्रस्ताव पर हंस दिया। उनकी सब बातें वाहियात थीं। हमारे जैसे विचारों वाले लोग अपनी बेकसूर जनता पर बम नहीं फेंका करते। एक दिन सी.आई.डी. के तत्कालीन वरिष्ठ अधीक्षक मिस्टर न्यूमैन मेरे पास आये। और काफ़ी देर तक सहानुभूति जताने वाली बातें करने के बाद उन्होंने मुझे यह खबर सुनायी – जो उनके हिसाब से अत्यन्त दु:खद थी – कि वे लोग जैसा बयान मुझसे चाहते हैं, मैंने नहीं दिया तो मजबूर होकर उन्हें मुझ पर काकोरी कांड के सिलसिले में शासन के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के षड्यन्त्र और दशहरा बमकाण्ड के सिलसिले में हुई क्रूर हत्याओं के लिए मुक़दमा चलाना पड़ेगा। फिर उन्होंने मुझे बताया कि उनके पास मुझे सजा दिलाने और फाँसी चढ़ाने के लिए काफ़ी सबूत मौजूद हैं। उन दिनों मैं यह मानता था – हालाँकि मैं बिल्कुल निर्दोष था – कि पुलिस चाहे तो ऐसा कर सकती है। उसी दिन कुछ पुलिस अफ़सरों ने मुझे सुबह-शाम दोनों समय नियम से प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करना शुरू कर दिया। अब मैं ठहरा नास्तिक। मैंने अपने मन में यह फ़ैसला कर

लेना चाहा कि मैं सुख-शान्ति के दिनों में ही नास्तिक होने की शेखी बघारता हूँ या ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी अपने सिद्धान्तों पर अटल रह सकता हूँ। बहुत सोच-विचार के बाद मैंने यह निश्चय किया कि मैं स्वयं को ईश्वर में विश्वास करने और उसकी प्रार्थना करने के लिए तैयार नहीं कर सकता। और मैंने प्रार्थना नहीं की। एक बार भी नहीं की। यह असली परीक्षा थी और मैं उसमें उत्तीर्ण हुआ। एक क्षण के लिए भी मेरे मन में यह विचार नहीं आया कि कुछ अन्य चीज़ों की कीमत पर मैं अपनी जान बचा लूँ। इस तरह मैं पक्का नास्तिक था और तब से आज तक हूँ। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होना कोई आसान काम नहीं था। आस्तिकता मुश्किलों को आसान कर देती है, यहाँ तक कि उन्हें खुशगवार भी बना सकती है। आदमी ईश्वर में बड़ी ज़बरदस्त राहत और दिलासा पा सकता है। उसके बिना आदमी को अपने ऊपर ही भरोसा करना पड़ता है। और आँधियों-तूफ़ानों के बीच अपने पैरों पर खड़े रहना बच्चों का खेल नहीं है। परीक्षा की ऐसी घड़ियों में अहम्मन्यता अगर हो भी तो कपूर की तरह उड़ जाती है और आदमी प्रचलित विश्वासों को ठुकराने की हिम्मत नहीं कर पाता, अगर करता है तो हमें कहना पड़ेगा कि उसमें निरी अहम्मन्यता के अलावा कोई और ताक़त है।

ठीक यही स्थिति आज है। सब लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे मुक़दमे का फ़ैसला क्या होना है। हफ़्ते भर में वह सुना भी दिया जायेगा। मेरे लिए इस ख़याल के अलावा और क्या राहत हो सकती है कि मैं एक उद्देश्य के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने जा रहा हूँ? ईश्वर में विश्वास करने वाला हिन्दू राजा बनकर पुनर्जन्म लेने की आशा कर सकता है, मुसलमान या ईसाई जन्नत में मिलने वाले मजे लूटने और अपनी मुसीबतों और कुर्बानियों के बदले इनाम हासिल करने के सपने देख सकता है। मगर मैं किस चीज़ की उम्मीद करूँ? मैं जानता हूँ कि जब मेरी गरदन में फाँसी का फन्दा डालकर मेरे पैरों के नीचे से तख्ते खींचे जायेंगे, सब कुछ समाप्त हो जायेगा। वही मेरा अन्तिम क्षण होगा। मेरा, अथवा आध्यात्मिक शब्दावली में कहूँ तो मेरी आत्मा का, सम्पूर्ण अन्त उसी क्षण हो जायेगा। बाद के लिए कुछ नहीं रहेगा। अगर मुझमें इस दृष्टि से देखने का साहस है तो एक छोटा सा संघर्षमय जीवन ही, जिसका अन्त भी कोई शानदार अन्त नहीं, अपने आप में मेरा पुरस्कार होगा। बस और कुछ नहीं। किसी स्वार्थपूर्ण इरादे के बिना, इहलोक या परलोक में कोई पुरस्कार पाने की इच्छा के बिना, बिल्कुल अनासक्त भाव से मैंने अपना जीवन आज़ादी के उद्देश्य के लिए अर्पित किया है, क्योंकि मैं ऐसा किये बिना रह नहीं सका।

जिस दिन ऐसी मानसिकता वाले बहुत से लोग हो जायेंगे जो मानव-सेवा और पीड़ित मानवता की मुक्ति को हर चीज़ से ऊपर समझ कर उसके लिये अपने आप को अर्पित करेंगे, उसी दिन आज़ादी का युग शुरू होगा। जब वे राजा बनने के लिये

नहीं; इहलोक में, अगले जन्म या मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में जाकर कोई अन्य पुरस्कार पाने के लिये नहीं बल्कि मानवता की गरदन पर रखा दासता का जुवा उतार फेंकने के लिए और स्वतन्त्रता एवं शान्ति की स्थापना के लिये दमनकारियों, शोषकों और अत्याचारियों को चुनौती देने की प्रेरणा ग्रहण करेंगे, तभी वे इस मार्ग पर चल सकेंगे जो व्यक्तिगत रूप से उनके लिये भले ही ख़तरनाक हो लेकिन उनकी महान आत्माओं के लिये एकमात्र गौरवपूर्ण मार्ग है।

इस महान उद्देश्य के लिये स्वयं को अर्पित करने में उन्हें जो गर्व होगा, क्या उसे अहम्मन्यता कहा जा सकता है? उन पर ऐसा घृणित लांछन लगाने की हिम्मत कौन कर सकता है? अगर कोई करता है तो मैं कहूँगा कि या तो वह मूर्ख है या धूर्त। चलिये, हम उसे माफ किये देते हैं, क्योंकि वह हृदय की गहराई और आवेग को, उसमें उठने वाली भावनाओं और उदात्त अनुभूतियों को समझ ही नहीं सकता। उसका दिल मांस का बेजान लोथड़ा है। उसकी आँखों पर अन्य स्वार्थों का परदा पड़ा हुआ है, इसलिए वे अच्छी तरह देख ही नहीं सकतीं।

आत्मनिर्भरता को अहम्मन्यता के रूप में व्याख्यायित कर लेने की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है। यह बड़ी दु:खद और बुरी बात है, लेकिन इसके बारे में कुछ किया नहीं जा सकता। आप किसी प्रचलित विश्वास का विरोध करके देखिये, किसी ऐसे नायक या महान व्यक्ति की आलोचना करके देखिये, जिसके बारे में लोग यह मानते हों कि वह कभी कोई ग़लती कर ही नहीं सकता इसलिए उसकी आलोचना की ही नहीं जा सकती, आप के तर्कों की ताक़त लोगों को मजबूर करेगी कि वे अंहकारी कहकर आप का मजाक उड़ायें। इसका कारण मानसिक जड़ता है। आलोचना और स्वतन्त्र चिन्तन क्रान्तिकारी के दो अनिवार्य गुण होते हैं। यह नहीं कि महात्माजी महान हैं इसलिए किसी को उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिए; चूँकि वे पहुँचे हुए आदमी हैं इसलिए राजनीति, धर्म, अर्थशास्त्र या नीतिशास्त्र पर वे जो कुछ कह देंगे वह सही ही होगा; आप सहमत हों या न हों पर आप को कहना ज़रूर पड़ेगा कि यही सत्य है। यह मानसिकता प्रगति की ओर नहीं ले जाती। साफ़ ज़ाहिर है कि यह प्रतिक्रियावादी मानसिकता है।

चूँकि हमारे पूर्वजों ने किसी परमसत्ता में – सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास बना लिया था, इसलिए उस विश्वास को या उस परम सत्ता को चुनौती देने वालों को अगर काफिर और गद्दार कहा जाना है; चूँकि उसके तर्क इतने वजनी हैं कि उनकी काट सम्भव नहीं और उसकी भावना इतनी प्रबल है कि सर्वशक्तिमान के कोप से उस पर पड़ने वाली मुसीबतों का भय दिखा कर भी उसे दबाया नहीं जा सकता, इसलिए अहंकारी कह कर उसका और अहम्मन्यता कहकर उसकी भावना का मजाक

उड़ाया ही जाना है तो फिर इस बेकार बहस में समय नष्ट करने की ज़रूरत ही क्या? इस सारे मसले पर जिरह करने की कोशिश ही क्यों? मैं जो यह विस्तृत चर्चा छेड़ बैठा हूँ, उसकी वजह यह है कि जनता के सामने यह सवाल पहली बार आ रहा है और पहली बार इस पर किसी लागलपेट के बिना बातचीत हो रही है।

जहाँ तक पहले सवाल का सम्बन्ध है, मेरा ख़याल है मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं अहम्मन्यता से प्रेरित होकर नास्तिक नहीं बना। मेरी तर्कपद्धति स्वीकार्य है या नहीं, यह फ़ैसला मुझे नहीं, बल्कि मेरे पाठकों को करना है। मैं जानता हूँ कि यदि मैं आस्तिक होता तो इन परिस्थितियों में मेरी ज़िन्दगी आसान हो गयी होती, मेरा बोझ हल्का हो गया होता। ईश्वर में विश्वास न करने के कारण मेरी हालत खुश्क है और इससे भी बदतर हो सकती है। थोड़ा सा रहस्यवाद इस स्थिति को खुशगवार बना सकता था, मगर मैं अपनी नियति का सामना करने के लिये किसी नशे का सहारा लेना नहीं चाहता। मैं यथार्थवादी हूँ। मैं अपनी सहजवृत्ति पर विवेक से विजय पाने की कोशिश करता रहा हूँ। मैं इस कोशिश में हमेशा कामयाब नहीं रहा हूँ। मगर इनसान का फ़र्ज़ है कि वह कोशिश करे। सफलता तो संयोग और परिस्थितियों पर निर्भर करती है।

जहाँ तक दूसरे सवाल का सम्बन्ध है कि यदि ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी पुराने और प्रचलित विश्वास में अविश्वास अहम्मन्यता के कारण नहीं तो उसका कोई और कारण होना चाहिए, मुझे यह कहना है कि हाँ, कारण है। मेरे विचार से जिस आदमी में थोड़ा सा भी विवेक होता है, वह हमेशा अपनी परिस्थितयों को तर्कसंगत ढंग से समझना चाहता है। जहाँ सीधे प्रमाण नहीं मिलते वहाँ दर्शन हावी हो जाता है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मेरे एक क्रान्तिकारी मित्र कहा करते थे कि दर्शन मानवीय दुर्बलता का परिणाम है। हमारे पूर्वज जब इस दुनिया के रहस्यों की गुत्थी सुलझाने की कोशिश करते थे; इसके अतीत, वर्तमान और भविष्य को तथा इससे सम्बन्धित 'क्यों' और 'कहाँ से' आदि को समझने चलते थे, तो उनके पास फ़ुरसत की तो कोई कमी नहीं होती थी मगर प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत ही कम होते थे। इसलिए हर आदमी अपने ढंग से समस्या को हल करने की कोशिश करता था। यही कारण है कि विभिन्न धार्मिक मतों में बुनियादी सिद्धान्त पर भारी मतभेद मिलते हैं, जो कभी-कभी नितान्त विरोधी और शत्रुतापूर्ण रूप ग्रहण कर लेते हैं।

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों में भिन्नता है ही, विश्व के प्रत्येक भू-भाग की अपनी विचार प्रणालियों में भी मतभेद है। प्राच्य धर्मों में इस्लाम और हिन्दू धर्मों में कोई अनुकूलता नहीं है। केवल भारत में ही देखें तो बौद्ध और जैन धर्म कहीं-कहीं ब्राह्मणवाद से बिल्कुल अलग हैं, जो स्वयं आर्यसमाज और सनातन धर्म जैसे परस्पर

विरोधी विश्वासों में बँटा हुआ है। इन सबसे अलग प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन में एक अपने ही ढंग का स्वतन्त्र विचार मिलता है। चार्वाक ने बहुत पहले ही ईश्वर की प्रभुसत्ता को चुनौती दे दी थी। जीवन और जगत-सम्बन्धी आधारभूत प्रश्न पर इन सभी मतों में भिन्नता है और हर कोई अपने आप को ही सही मानता है। यही है सारी बुराई की जड़।

प्राचीन काल के विद्वानों और चिन्तकों के प्रयोगों तथा उद्‌गारों को आधार बनाकर अज्ञान के विरुद्ध आगे की लड़ाई लड़ने और इस रहस्यमयी समस्या का समाधान खोजने के बजाय हम निकम्मे लोग – हमने सिद्ध कर दिया है कि हम निकम्मे हैं – विश्वास की, अपने-अपने मतों में अटल और अडिग विश्वास की, चीख़-पुकार मचाते रहते हैं। इस प्रकार हम मानवीय प्रगति को अवरुद्ध कर देने के दोषी हैं।

प्रगति के समर्थक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है कि वह पुराने विश्वास से सम्बन्धित हर बात की आलोचना करे, उसमें अविश्वास करे और उसे चुनौती दे। प्रचलित विश्वास की एक-एक बात के हर कोने-अंतरे की विवेकपूर्ण जाँच-पड़ताल उसे करनी होगी। यदि कोई विवेकपूर्ण ढंग से पर्याप्त सोच विचार के बाद किसी सिद्धान्त या दर्शन में विश्वास करता है तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसकी तर्क-पद्धति भ्रान्तिपूर्ण, ग़लत, पथ-भ्रष्ट और कदाचित् हेत्वाभासी हो सकती है, लेकिन ऐसा आदमी सुधर कर सही रास्ते पर आ सकता है, क्योंकि विवेक का ध्रुवतारा सही रास्ता बनाता हुआ उसके जीवन में चमकता रहता है। मगर कोरा विश्वास और अन्धविश्वास ख़तरनाक होता है। क्योंकि वह दिमाग़ को कुन्द करता है और आदमी को प्रतिक्रियावादी बना देता है।

यथार्थवादी होने का दावा करने वाले को तो समूचे पुरातन विश्वास को चुनौती देनी होगी। यदि विश्वास विवेक की आँच बरदाश्त नहीं कर सकता तो ध्वस्त हो जायेगा। तब यथार्थवादी आदमी को सबसे पहले उस विश्वास के ढाँचे को पूरी तरह गिरा कर उस जगह एक नया दर्शन खड़ा करने के लिये जमीन साफ़ करनी होगी।

यह तो हुआ नकारात्मक पक्ष। इसके बाद शुरू होता है सकारात्मक कार्य, जिसमें कई बार पुराने विश्वास की कुछ सामग्री पुनर्निर्माण के लिये इस्तेमाल की जा सकती है। जहाँ तक मेरी बात है, पहले ही कह दूँ कि मैं इस विषय का ज़्यादा अध्ययन नहीं कर पाया हूँ। मेरी बड़ी इच्छा थी कि प्राच्य दर्शन का अध्ययन करूँ, लेकिन वैसा कोई संयोग या अवसर मुझे नहीं मिला, मगर जहाँ तक नकारात्मक पक्ष का सम्बन्ध है, मैं पुराने विश्वास के सही होने की बात पर प्रश्नचिन्ह लगाने का कायल हो चुका हूँ। मुझे पक्का विश्वास हो गया है कि प्रकृति का निर्देशन और

संचालन करने वाली किसी चेतन परम सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। हम प्रकृति में विश्वास करते हैं और प्रकृति को मानव सेवा में नियोजित करने के लिये उसे मनुष्य की वशवर्ती बनाना समूचे प्रगतिशील आन्दोलन का लक्ष्य है। उसे चलाने वाली कोई चेतन शक्ति उसके पीछे नहीं है, यही हमारा दर्शन है।

नकारात्मक पक्ष की ओर से हम आस्तिकों से कुछ सवाल पूछते हैं: यदि आप के विश्वास के अनुसार कोई सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ ईश्वर है, जिसने इस पृथ्वी या दुनिया की सृष्टि की तो कृपया यह बताइये कि उसने ऐसा क्यों किया? उसने ऐसी दुनिया क्यों बनाई जिसमें तमाम दु:ख हैं, तकलीफ़ें हैं, जिसमें वास्तविक जीवन की त्रासदियों का एक अनन्त सिलसिला है और जिसमें एक भी प्राणी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं है?

कृपा करके यह न कहिये कि यह उसका नियम है, क्योंकि वह किसी नियम से बँधा हुआ है तो सर्वशक्तिमान नहीं है, तब तो वह हम जैसा ही एक ग़ुलाम है। कृपया यह भी न कहिये कि यह उसकी लीला या क्रीड़ा है जिसमें उसे आनन्द आता है। नीरो ने तो एक ही रोम को जलाया था। उसने तो थोड़े-से लोगों की ही जानें ली थीं। उसने तो पूर्णत: अपने आनन्द के लिये कुछ ही त्रासदियों को जन्म दिया था। और इतिहास में उसकी जगह कहाँ है? इतिहासकार उसे किस नाम से याद करते हैं? दुनिया भर की नफ़रत-भरी लानतें उस पर बरसायी जाती हैं। अत्याचारी, हृदयहीन और दुष्ट नीरो की भर्त्सना करते हुए पृष्ठ पर पृष्ठ गालियों से भरी कटु निन्दाओं से काले किये गये हैं। एक चंगेजखाँ था, जिसने हत्या का आनन्द लेने के लिये कुछ हजार लोगों की जानें ले ली थी और हम उसके नाम तक से नफ़रत करते हैं। तब आप अपने सर्वशक्तिमान, शाश्वत नीरो को उचित कैसे ठहरायेंगे जो हर दिन, हर घण्टे और हर मिनट असंख्य त्रासदियों को जन्म देता रहा है और आज भी दे रहा है? कैसे आप उसके उन दुष्कृत्यों का समर्थन करेंगे, जो प्रतिक्षण चंगेजखाँ के दुष्कृत्यों को मात करते हैं?

मैं पूछता हूँ, उसने यह दुनिया बनायी ही क्यों, जो साक्षात नर्क है, जो अनन्त और तल्ख बेचैनी का घर है? उस सर्वशक्तिमान ने मनुष्य की सृष्टि क्यों की जबकि उसके पास ऐसी सृष्टि न करने की शक्ति थी? इस सबका औचित्य क्या है? क्या कहा, परलोक में निर्दोष उत्पीड़ितों को पुरस्कार और कुकर्म करने वालों को दण्ड देने के लिये? अच्छा, तो यह बताइये कि उस आदमी को आप कहाँ तक सही ठहरायेंगे जो बाद में मुलायम और आरामदेह मरहम लगाने के लिए आपके शरीर को जख्मों से छलनी कर दे? ग्लैडिएटरों की संस्था के समर्थक और प्रबन्धक, जो पहले तो लोगों को भूखे और क्रुद्ध शेरों के सामने फेंक देते थे और बाद में अगर वे लोग ज़िन्दा बच

जाते तो उनकी बड़ी अच्छी देखभाल करते थे, कहाँ तक सही थे? इसीलिए मैं पूछता हूँ कि उस चेतन परम सत्ता ने इस दुनिया की और उसमें मनुष्य की सृष्टि क्यों की? अपने मजे के लिये? तो फिर उसमें और नीरो में क्या फर्क है?

हिन्दू दर्शन के पास तो अभी और भी तर्क होंगे, लेकिन मुसलमानो और ईसाइयो, मैं आप लोगों से पूछता हूँ कि आप के पास ऊपर के सवाल का क्या जवाब है? आप तो पूर्वजन्म में विश्वास नहीं करते। हिन्दुओं की तरह आप यह तर्क नहीं दे सकते कि प्रत्यक्ष रूप से निर्दोष लोग इसलिए दु:ख पा रहे हैं कि पूर्वजन्म में उन्होंने बुरे कर्म किये थे। मैं तो आप से पूछता हूँ कि उस सर्वशक्तिमान ने छह दिनों तक शब्द के द्वारा इस दुनिया को बनाने की मेहनत क्यों की और क्यों प्रतिदिन यह कहा कि सब ठीक है? आज उसे बुलाइए। उसे पिछला इतिहास दिखाइए। उससे कहिये कि वह वर्तमान स्थिति का अध्ययन करे। देखें वह कैसे कहता है कि "सब ठीक है"! जेलों की कालकोठरियों, गन्दी बस्तियों और झुग्गी-झोपड़ियों में भूखे मरते लाखों लोग, पूँजीवादी राक्षसों द्वारा अपना रक्त चूसे जाने की प्रक्रिया को धैर्यपूर्वक या रिक्त भाव से देखने वाले शोषित मज़दूरों, मामूली समझ वाले आदमी को भी आतंकित कर देने वाली मानवीय ऊर्जा की फ़िज़ूलख़र्चियों और ज़रूरतमन्द उत्पादकों में बाँटने के बजाय अतिरिक्त उत्पादन को समुद्र में फेंक देने जैसे कार्यों से लेकर नरकंकालों की नींव पर खड़े किये गये शाही महलों तक, हर चीज़ उसे दिखाइए और जरा उससे कहलाइए कि "सब ठीक है"! यह सब क्यों और कहाँ से आया? यह है मेरा सवाल। आप ख़ामोश हैं? तो ठीक है, मैं अपनी बात आगे बढ़ाता हूँ।

अच्छा, हिन्दुओ, आप कहते हैं कि जो लोग आज दु:ख पा रहे हैं वे पूर्वजन्मों के पापी हैं। ठीक, आप यह भी कहते हैं कि आज के उत्पीड़क लोग पूर्वजन्मों के धर्मात्मा हैं इसलिए उनके हाथ में सत्ता है। मानना पड़ेगा कि आप के पूर्वज बड़े चालाक थे। उन्होंने ऐसे सिद्धान्त खोज निकालने का प्रयास किया जिनसे विवेक और अविश्वास के आधार पर की जाने वाली तमाम कोशिशों को दबा दिया जाये। लेकिन आइये, विश्लेषण करके देखें कि वास्तव में इस तर्क में कितना दम है।

क़ानून के प्रसिद्धतम जानकारों की राय में दुष्कर्म करने वाले को दी जाने वाली सजा केवल तीन-चार उद्देश्यों की दृष्टि से ही उचित ठहरायी जाती है। ये उद्देश्य हैं: प्रतिकार, यानी बदला लेना; सुधार यानी दोषी व्यक्ति को सुधार कर सही रास्ते पर लाना; और निवारण यानी दण्ड का भय दिखाकर लोगों को दुष्कर्म करने से रोकना। प्रतिकार के सिद्धान्त की भर्त्सना तो आज के सभी प्रगतिशील विचारक करते ही हैं, निवारण के सिद्धान्त का भी यही हश्र होने वाला है। एकमात्र सुधार का सिद्धान्त ही सारवान और मानवीय प्रगति के लिए अपरिहार्य है। इसका उद्देश्य है दोषी व्यक्ति को

अत्यन्त सुयोग्य एवं शान्तिप्रिय नागरिक बनाकर समाज को लौटा देना। लेकिन अगर हम सभी मनुष्यों को अपराधी मान भी लें तो ईश्वर द्वारा उन्हें दी जाने वाली सजा कैसी है? आप कहते हैं कि वह उन्हें गाय, बिल्ली, वृक्ष, जड़ी-बूटी या जानवर बना कर दुनिया में भेजता है। आप इन सजाओं की संख्या 84 लाख बताते हैं। मैं पूछता हूँ, इसका मनुष्य पर कौन-सा सुधारात्मक प्रभाव पड़ता है? आप को ऐसे कितने लोग मिले जो कहते हों कि पाप करने के कारण पिछले जन्म में वे गधा बने थे? एक भी नहीं। अपने पुराणों के उद्धरण रहने दीजिये। आप की पौराणिक कहानियों में उलझने की फ़ुरसत मेरे पास नहीं है। आप तो यह बताइये, क्या आप जानते हैं कि इस दुनिया में सबसे बड़ा पाप ग़रीब होना है, लेकिन आप के अनुसार यह लोगों को ईश्वर द्वारा दी गयी सजा है। मैं पूछता हूँ, आप उस अपराधविज्ञानी को, उस विधिवेत्ता या विधायक को कैसे उचित ठहरायेंगे जो आदमी को अनिवार्यत: और ज़्यादा अपराध करने के लिये मजबूर करने वाली सजाएँ तजवीज करे? क्या आपके ईश्वर ने इस चीज़ पर गौर नहीं किया? या उसे भी ऐसी बातें अनुभव से सीखनी पड़ती हैं? लेकिन मानवता को अकथनीय दु:ख झेलकर इसके लिये कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है!

किसी ग़रीब और अनपढ़ चमार या भंगी के घर पैदा होने वाले आदमी की नियति आप के ख़याल से क्या होगी? वह ग़रीब है इसलिए पढ़-लिख नहीं सकता। तथाकथित ऊँची जाति में पैदा होने के कारण स्वयं को श्रेष्ठ मानने वाले उसके संगी-साथी उससे नफ़रत करते हैं और अछूत मानकर अलग-थलग रखते हैं। उसका अज्ञान, उसकी ग़रीबी और उसके साथ किया जाने वाला बरताव समाज के प्रति उसके हृदय को कठोर बना देगा। मान लीजिये, वह कोई पाप करता है, तो उसकी सजा कौन भुगतेगा? ईश्वर? वह स्वयं, या समाज के ज्ञानवान लोग? घमण्डी और स्वार्थी ब्राह्मणों द्वारा जान-बूझकर अज्ञानी बनाकर रखे गये उन लोगों की सजा के बारे में आप क्या कहते हैं जिन्हें आप के पवित्र ज्ञान-ग्रन्थों, यानी वेदों की कुछ पंक्तियाँ सुन लेने का दण्ड अपने कानों में पिघले हुए गरम सीसे की धार झेलकर भरना पड़ता था? अगर उनका कोई अपराध था भी तो उसके लिये ज़िम्मेदार कौन था और उसका नतीजा किसको भुगतना चाहिए था?

मेरे प्यारे दोस्तो, ये सिद्धान्त विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के मनगढ़न्त सिद्धान्त हैं। वे इन सिद्धान्तों के जरिए ज़बरदस्ती हथियाई हुई अपनी शक्ति, सम्पन्नता और श्रेष्ठता को उचित ठहराते हैं। याद आया, शायद अप्टन सिंक्लेयर ने कहीं लिखा है कि आदमी को अमरता में विश्वास करने वाला बना दो और उसके पास धन-सम्पत्ति आदि जो कुछ भी है, सब लूट लो। वह उफ नहीं करेगा, यहाँ तक कि अपने को

लूटने में ख़ुद आप की मदद करेगा। धार्मिक उपदेशकों और सत्ताधारियों की मिलीभगत से ही जेलों, फांसियों, कोड़ों और इन सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है।

मैं पूछता हूँ, जब कोई आदमी पाप या अपराध करना चाहता है तो आपका सर्वशक्तिमान ईश्वर उसे रोकता क्यों नहीं? उसके लिए तो यह बहुत ही आसान काम होगा। उसने जंगबाजों को मारकर या उनके भीतर युद्धोन्माद को मारकर मनुष्यता को विश्वयुद्ध की महाविपत्ति से क्यों नहीं बचाया? वह अंग्रेज़ों के मन में कोई ऐसी भावना क्यों नहीं पैदा कर देता कि वे हिन्दुस्तान को आज़ाद कर दें? वह तमाम पूँजीपतियों के दिलों में परोपकार का ऐसा जज्बा क्यों नहीं भर देता कि वे उत्पादन के साधनों पर अपने निजी स्वामित्व के अधिकार को त्याग दें और इस प्रकार सारे मेहनतकश वर्ग को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को पूँजीवाद के बन्धन से मुक्त कर दें? आप समाजवाद के सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर बहस करना चाहते हैं। चलिये, मैं यह ज़िम्मेदारी आपके सर्वशक्तिमान पर ही डालता हूँ कि वह उसे व्यावहारिक बना दे। लोग इतना तो मानते ही हैं कि आम जनता की भलाई के लिए समाजवाद अच्छी चीज़ है। उसका विरोध करने के लिए उनके पास एक ही बहाना है कि वह व्यावहारिक नहीं है। तो अपने सर्वशक्तिमान को बुलाइए और उससे कहिये कि वह बाकायदा सारी दुनिया में समाजवाद क़ायम कर दे।

अब आप गोलमाल तर्क देना बन्द कीजिये, वे चलेंगे नहीं। मैं आपको बता दूँ, अंग्रेज़ों का शासन यहाँ इसलिए नहीं है कि यह ईश्वर की इच्छा है, बल्कि इसलिए है कि उनके पास ताक़त है और हम उनका विरोध नहीं करते। वे ईश्वर की सहायता से नहीं, बल्कि तोपों, बन्दूकों, बमों और गोलियों, पुलिस और फ़ौज तथा हमारी उदासीनता की सहायता से हमें ग़ुलाम बनाये हुए हैं और एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का निर्लज्ज शोषण करने का सबसे घृणित पाप समाज के विरुद्ध सफलतापूर्वक करते चले जा रहे हैं। ईश्वर कहाँ है? वह क्या कर रहा है? क्या वह मानवजाति के इन सब दु:खों और तकलीफ़ों का मजा ले रहा है? तब तो वह नीरो है, चंगेजखाँ है, उसका नाश हो!

क्या आप मुझसे यह जानना चाहते हैं कि यदि मैं ईश्वर को नहीं मानता तो दुनिया और इनसान को कहाँ से पैदा हुआ मानता हूँ? ठीक है, बताता हूँ। चार्ल्स डार्विन ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की है। उसका अध्ययन कीजिये। निर्लम्ब स्वामी की पुस्तक 'सहज ज्ञान' पढ़िये। इससे कुछ हद तक आपके सवाल का जवाब मिल जायेगा। यह प्राकृतिक घटना है। विभिन्न पदार्थों के आकस्मिक संयोग से उत्पन्न नीहारिका से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। कब? यह जानने के लिए इतिहास देखिये। इसी प्रकार जीवधारी उत्पन्न हुए और उनमें से ही एक लम्बे अरसे के बाद मनुष्य का विकास हुआ। डार्विन की पुस्तक 'जीवों की उत्पत्ति' पढ़िये। और

इसके बाद की तमाम प्रगति प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा उसके विरुद्ध किये गये अनवरत संघर्ष से हुई है। इस घटना की यह संक्षिप्ततम व्याख्या है।

आपका दूसरा तर्क यह हो सकता है कि जन्म से ही अन्धे या लंगड़े पैदा होने वाले बच्चे यदि पूर्वजन्म के कर्मों के कारण नहीं तो और किस कारण से ऐसे पैदा होते हैं। जीवविज्ञानी इसकी व्याख्या कर चुके हैं और उनके अनुसार यह महज एक जीववैज्ञानिक घटना है। उनके अनुसार इसके लिए माता-पिता उत्तरदायी होते हैं, चाहे वे गर्भावस्था में ही बच्चे में हो जाने वाली विकृतियों को जन्म देने वाले अपने कार्यो के प्रति सचेत हों या न हों।

स्वाभाविक है कि अब आप एक और सवाल पूछेंगे - हालाँकि सारत: वह सवाल बचकाना है। आपका सवाल होगा: यदि ईश्वर था ही नहीं तो लोग उसमें विश्वास कैसे करने लगे? मेरा उत्तर स्पष्ट और संक्षिप्त है। लोग जिस तरह भूतों और प्रेतात्माओं में विश्वास करने लगे, उसी तरह ईश्वर में विश्वास करने लगे; फर्क सिर्फ़ यह है कि ईश्वर में विश्वास सर्वव्यापी है और इसका दर्शन बहुत विकसित है। कुछ परिर्वतनवादी यह मानते हैं कि ईश्वर की उत्पत्ति शोषकों की चालबाजी से हुई, जो एक परमसत्ता के अस्तित्व का प्रचार करके और फिर उससे प्राप्त सत्ता और विशेष अधिकारों का दावा करके लोगों को गुलाम बनाना चाहते थे। मैं यह नहीं मानता कि उन्हीं लोगों ने ईश्वर को पैदा किया, हालाँकि मैं इस मूल बात से सहमत हूँ कि सभी विश्वास, धर्म, मत और इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ अन्तत: दमनकारी तथा शोषक संस्थाओं, व्यक्तियों और वर्गों की समर्थक बनकर ही रहीं। राजा के विरुद्ध विद्रोह करना हर धर्म के मुताबिक पाप है।

ईश्वर की उत्पत्ति के बारे में मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ने जब अपनी कमियों और कमजोरियों पर विचार करते हुए अपनी सीमाओं का अहसास किया तो मनुष्य को तमाम कठिन परिस्थितियों का साहसपूर्वक सामना करने और तमाम ख़तरों के साथ वीरतापूर्वक जूझने की प्रेरणा देने वाली तथा सुख-समृद्धि के दिनों में उसे उच्छृंखल हो जाने से रोकने और नियन्त्रित करने वाली सत्ता के रूप ईश्वर की कल्पना की। अपने निजी नियमों वाले और पालनहार जैसी उदारता वाले ईश्वर की कल्पना ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर की गयी और वैसा ही उसका विशद चित्रण किया गया। उसके क्रोध और मनमाने नियमों की चर्चा करके उसका इस्तेमाल एक निवारक तत्व के रूप में किया जाता था, ताकि आदमी समाज के लिए ख़तरा न बन जाये। उसके पालनहार जैसे गुणों की चर्चा करके उससे पिता, माता, बहिन और भाई, मित्र और सहायक का काम लिया जाता था, ताकि आदमी जब भारी मुसीबत में हो और सब

लोग धोखा देकर उसका साथ छोड़ गये हो तो वह इस विचार से तसल्ली पा सके कि कम-से-कम एक तो उसका सच्चा मित्र है जो उसकी सहायता करेगा, उसे सहारा देगा, और जो ऐसा सर्वशक्तिमान है कि कुछ भी कर सकता है। आदिम युग के समाज में यह चीज़ सचमुच बड़ी उपयोगी थी। मुसीबत में पड़े आदमी के लिए ईश्वर का विचार मददगार होता था।

समाज ने जिस प्रकार मूर्तिपूजा और धार्मिक संकीर्णताओं के विरुद्ध संघर्ष किया है, उसी प्रकार उसे इस विश्वास के विरुद्ध भी संघर्ष करना होगा। इसी तरह इनसान जब अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करेगा और यथार्थवादी बनेगा, तो उसे अपनी आस्तिकता को झटक कर फेंक देना पड़ेगा और परिस्थितियाँ चाहे उसे कैसी भी मुसीबत और परेशानी में डाल दें, उनका सामना मर्दानगी के साथ करना पड़ेगा। मेरी हालत ठीक इसी तरह की है।

मेरे दोस्तो, यह अहम्मन्यता नहीं है। यह मेरे सोचने का तरीक़ा है, जिसने मुझे नास्तिक बना दिया है। मैं नहीं जानता कि ईश्वर में विश्वास करने और रोज प्रार्थना करने से - जिसे मैं आदमी का सबसे स्वार्थपूर्ण और घटिया काम समझता हूँ - मुझे राहत मिलती या मेरी हालत और भी बदतर हुई होती। मैंने उन नास्तिकों के बारे में पढ़ा है, जिन्होंने साहसपूर्वक सारी मुसीबतों का सामना किया। उन्हीं की तरह मैं भी यह कोशिश कर रहा हूँ कि आखिर तक, फाँसी के तख्ते पर भी, मर्द की तरह सिर ऊँचा किये खड़ा रहूँ।

देखिये, इस कोशिश में कहाँ तक कामयाब होता हूँ। एक मित्र ने मुझसे प्रार्थना करने के लिए कहा था। जब उन्हें पता चला की मैं नास्तिक हूँ, तो उन्होंने कहा, "अपने अन्तिम दिनों में तुम ईश्वर को मानने लगोगे।" मैंने कहा, "नहीं जनाब, यह नहीं होगा। मैं इसे अपने लिए अपमान और पस्तहिम्मती का काम समझूँगा। स्वार्थपूर्ण इरादों से प्रार्थना हरगिज नहीं करूँगा।" पाठको और मित्रो, क्या यह अहम्मन्यता है? अगर है तो मैं इसका हामी हूँ।

(अक्टूबर, 1930)

`ड्रीमलैण्ड' की भूमिका

मेरे श्रेष्ठ मित्र लाला रामसरन दास ने मुझसे अपनी काव्यकृति 'द ड्रीमलैण्ड' की भूमिका लिखने के लिए कहा है। मैं न तो कवि हूँ, न साहित्यकार हूँ और न पत्रकार या आलोचक ही हूँ, इसलिए उनकी इस माँग का औचित्य मैं किसी भी तरह से नहीं समझ पा रहा हूँ। लेकिन जिन परिस्थितियों में मैं हूँ उनमें लेखक से इस बारे में बहस-मुबाहसा कर पाना सम्भव नहीं है, इसलिए मेरे सामने मित्र की इच्छा पूरी करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता।

चूँकि मैं कवि नहीं हूँ, इसलिए मैं उस दृष्टिकोण से इस पर बहस करने नहीं जा रहा हूँ। मैं छन्दों-तुकों के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हूँ और यह भी नहीं जानता कि छन्दों के मानदन्डों पर यह खरी उतरेगी या नहीं। एक साहित्यकार नहीं होने के नाते मैं राष्ट्रीय साहित्य में इसका उचित स्थान दिलाने के दृष्टिकोण से इस पर बहस करने नहीं जा रहा हूँ।

एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता होने के नाते अधिक से अधिक मैं इस पर उसी दृष्टिकोण से बहस कर सकता हूँ। लेकिन यहाँ भी एक बात मेरे काम को व्यावहारिक तौर पर असम्भव, या कम से कम बहुत कठिन बना देती है। नियमानुसार भूमिका हमेशा वह आदमी लिखता है जो कृति की विषयवस्तु के बारे में वही विचार रखता हो जो लेखक रखता है। लेकिन यहाँ मामला काफ़ी भिन्न है। मैं अपने मित्र से सभी मामलों पर एकमत नहीं हूँ। वे इस तथ्य से परिचित थे कि विभिन्न अहम बिन्दुओं पर मैं उनसे भिन्न विचार रखता हूँ। इसलिए, मैं यह जो लिख रहा हूँ वह कम से कम इस पुस्तक की भूमिका नहीं होने जा रही है, और चाहे जो हो। यह काफ़ी हद तक उसकी आलोचना हो सकती है, इसलिए इसका स्थान पुस्तक के अन्त में होगा न कि उसके आरम्भ में।

राजनीतिक क्षेत्र में 'ड्रीमलैंड' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान परिस्थिति में वह आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण रिक्तता को भरती है। वास्तव में, हमारे देश के

सभी राजनीतिक आन्दोलनों में, जिन्होंने हमारे आधुनिक इतिहास में कोई न कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उस आदर्श की कमी रही है जिसकी प्राप्ति उसका लक्ष्य था। क्रान्तिकारी आन्दोलन इसका अपवाद नहीं है। एक गदर पार्टी को छोड़कर जिसने अमेरिकी प्रणाली की सरकार से प्रेरित होकर स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वे मौजूदा सरकार की जगह गणतान्त्रिक ढंग की सरकार क़ायम करना चाहते हैं, मुझे अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद एक भी ऐसी क्रान्तिकारी पार्टी नहीं मिली जिसके सामने यह विचार स्पष्ट हो कि वह किसलिए लड़ रही है। सभी पार्टियों में केवल ऐसे लोग थे जिनके पास केवल एक विचार था और वह यह था कि उन्हें विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करना है। यह विचार पर्याप्त रूप से सराहनीय है। लेकिन इसे एक क्रान्तिकारी विचार नहीं कहा जा सकता। हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि क्रान्ति का अर्थ मात्र उथल-पुथल या रक्तरंजित संघर्ष नहीं होता। क्रान्ति में, मौजूदा हालत (यानी, सत्ता) को पूरी तरह से ध्वस्त करने के बाद, एक नये और बेहतर स्वीकृत आधार पर समाज के सुव्यवस्थित पुनर्निर्माण का कार्यक्रम अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित रहता है।

राजनीतिक क्षेत्र में, उदारवादी लोग मौजूदा सरकार में ही कुछ सुधार चाहते थे, जबकि उग्रवादी इससे कुछ अधिक चाहते हैं और उस उद्देश्य के लिए उग्रवादी साधन अपनाने के लिए तैयार थे। क्रान्तिकारी लोग हमेशा अतिवादी साधनों को अपनाने के पक्षधर रहे हैं और उनका एक ही उद्देश्य रहा है – विदेशी प्रभुत्व को उखाड़ फेंकना। बेशक इनमें कुछ ऐसे लोग भी रहे हैं जो इन साधनों से कुछ सुधार प्राप्त करने के पक्षधर थे। इन सभी आन्दोलनों को सही मायने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

लेकिन, लाला रामसरन दास पहले क्रान्तिकारी हैं जिन्हें 1908 में एक बंगाली फरार (क्रान्तिकारी) ने पंजाब में औपचारिक रूप से क्रान्तिकारी पार्टी में शामिल किया था। तब से वे लगातार क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े रहे और अन्ततोगत्वा गदर पार्टी में शामिल हो गये, लेकिन उन्होंने अपने उन विचारों का परित्याग नहीं किया जो आन्दोलन के आदर्शों के बारे में पुराने क्रान्तिकारियों के थे। पुस्तक के आकर्षण और मूल्य को बढ़ाने वाला यह दूसरा दिलचस्प तथ्य है। लाला रामसरन दास को 1915 में मौत की सजा मिली थी और बाद में उसे आजीवन कारावास में बदल दिया गया था। आज ख़ुद फाँसी की कालकोठरी में बैठकर मैं पाठकों को साधिकार बता सकता हूँ कि आजीवन कारावास मौत की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर

है। लाला रामसरन दास को पूरे चौदह वर्ष जेल की सजा भुगतनी पड़ी। यह कविता उन्होंने दक्षिण की किसी जेल में लिखी थी। लेखक की उस समय की मन:स्थिति और मानसिक संघर्ष का कविता पर स्पष्ट प्रभाव है जो इसे और अधिक सुन्दर और दिलचस्प बना देता है। उसने जिस समय इसे लिखने का निश्चय किया उस समय वह किन्हीं नैराश्यपूर्ण मनोभावों के विरुद्ध कठिन संघर्ष कर रहा था। उन दिनों में, जब बहुत से साथी आश्वासन ('अण्डरटेकिंग') देकर छूट चुके थे और सबके सामने, उसके (लेखक के) सामने भी बड़े-बड़े प्रलोभन थे, और जब पत्नी और बच्चों की मधुर दुखदायी यादें अपनी मुक्ति की आकांक्षा को और अधिक मज़बूत कर रही थीं, ऐसी स्थिति में लेखक को इन चीज़ों के पस्तहिम्मती पैदा करने वाले प्रभाव के विरुद्ध कठिन संघर्ष करना पड़ा था और उसने अपना ध्यान इस रचना-कार्य की ओर मोड़ दिया था। इसलिए, प्रारम्भिक पदों में हमें इस तरह का आकस्मिक भावोद्वेग मिलता है -

"पत्नी, बच्चे और मित्र जो मुझे घेरे रहते थे
वे चारों ओर घूमते
ज़हरीले साँपों के समान थे।"
("Wife, children, friends, that me surround
Were poisonous snakes all arround")

वह (कवि) शुरू में दर्शन की चर्चा करता है। यह दर्शन बंगाल और पंजाब के सभी क्रान्तिकारी आन्दोलनों की रीढ़ है। इस बिन्दु पर मैं लेखक से बहुत व्यापक मतभेद रखता हूँ। उसकी ब्रह्मांड की व्याख्या हेतुवादी और आधिभौतिक है, जबकि मैं एक भौतिकवादी हूँ और इर परिघटना (फेनॉमेना) की मेरी व्याख्या कारणसम्बद्ध होगी। फिर भी किसी भी तरह से यह रचना देश-काल की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं है। जो सामान्य विचार हमारे देश में मौजूद हैं वे लेखक द्वारा अभिव्यक्त विचारों के अनुरूप अधिक हैं। अपनी नैराश्यपूर्ण मनोदशा से संघर्ष के लिए उसने प्रार्थना का रास्ता अख्तियार किया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि पुस्तक का प्रारम्भ पूरी तरह ईश्वर, उसकी महिमा के वर्णन और उसकी परिभाषा को समर्पित है। ईश्वर में विश्वास रहस्यवाद का परिणाम है जो निराशा का स्वाभाविक प्रतिफलन है। यह विश्व एक 'माया', एक स्वप्न या कल्पना है - यह स्पष्टत: रहस्यवाद है जिसे शंकराचार्य तथा दूसरे अन्य प्राचीन काल के हिन्दू सन्तों ने जन्म दिया और विकसित किया। लेकिन भौतिकवादी दर्शन में इस चिन्तन-पद्धति के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी लेखक

का यह रहस्यवाद किसी भी तरह से हेय या खेदजनक नहीं है। इसका अपना सौन्दर्य और आकर्षण है। उसके विचार उत्साहप्रद हैं, उदाहरण के लिए –

"नींव के पत्थर बनो, अनजाने-अज्ञात,
और अपने सीने पर बर्दाश्त करो ख़ुशी-ख़ुशी
विशाल भारी-भरकम निर्माण का बोझ,
पा लो आश्रय कष्ट सहन में,
मत करो ईर्ष्या शीर्ष पर जड़े पत्थर से
जिस पर उड़ेली जाती है सारी लौकिक प्रशंसा," आदि आदि।
("Be a foundation stone obscure,
And on thy breast cheerfully bear
The architecture vast and huge,
In suffering find true refuge.
Envy not the plastered top-stone,
On which all worldly praise is thrown", etc. etc.)

अपने निजी अनुभव के आधार पर मैं अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ कि गुप्त कार्यों के दौरान, जब मनुष्य 'बिना किसी आशा और भय के', लगातार अपरिचित, असम्मानित, अप्रशंसित व्यक्ति की मौत मरने के लिए तैयार रहते हुए' लगातार एक जोखिम भरी ज़िन्दगी बिताता है, तो वह व्यक्तिगत प्रलोभनों और इच्छाओं से सिर्फ़ इस तरह के रहस्यवाद के सहारे ही लड़ सकता है और ऐसा रहस्यवाद किसी भी तरह से पस्तहिम्मती पैदा करनेवाला नहीं होता। असली चीज़ जिसका उन्होंने वर्णन किया है वह एक क्रान्तिकारी की मानसिकता है। लाला रामसरन दास जिस क्रान्तिकारी पार्टी के सदस्य थे, उसे कई हिंसात्मक कार्यों के लिए ज़िम्मेदार ठहराया गया था। लेकिन इससे किसी भी तरह यह साबित नहीं होता कि क्रान्तिकारी ध्वंस में सुख अनुभव करनेवाले ख़ून के प्यासे राक्षस होते हैं। पढ़िये –

"अगर ज़रूरत हो, तो उग्र बनो ऊपरी तौर पर
लेकिन हमेशा नरम रहो अपने दिल में
अगर ज़रूरत हो, तो फुँफकारो पर डसो मत
दिल में प्यार को ज़िन्दा रखो और लड़ते रहो ऊपरी तौर पर"।
("If need be, outwardly be wild,
But in thy heart be always mild

Hiss if need be, but do not bite
Love in thy heart and outside fight".)

निर्माण के लिए ध्वंस ज़रूरी ही नहीं, अनिवार्य है। क्रान्तिकारियों को इसे अपने कार्यक्रम के एक आवश्यक अंग के रूप में अपनाना पड़ता है, और ऊपर की पंक्तियों में हिंसा और अहिंसा के दर्शन को ख़ूबसूरत ढंग से बयान किया गया है। लेनिन ने एक बार गोर्की से कहा कि उन्हें ऐसा संगीत सुनने को नहीं मिला जो सभी नाड़ियों-शिराओं को झकझोर दे और जिसे सुनकर कलाकार का सिर थपथपाने की इच्छा पैदा हो जाय। "लेकिन," उन्होंने आगे कहा था, "यह समय सिर थपथपाने का नहीं है। इस समय हाथों को खोपड़ियाँ तोड़नी हैं, हालाँकि हमारा चरम उद्देश्य हर प्रकार की हिंसा को समाप्त करना है।"[एक भयानक आवश्यकता के रूप में हिंसात्मक साधनों का उपयोग करते हुए क्रान्तिकारी भी ठीक ऐसा ही सोचते हैं।

इसके बाद लेखक परस्पर-विरोधी धर्मों की समस्या पर विचार करता है। वह सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है जैसा कि प्राय: सभी राष्ट्रवादी किया करते हैं। इस सवाल को हल करने का यह तरीक़ा लम्बा और गोलमोल है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं इस मसले को कार्ल मार्क्स के एक वाक्य द्वारा खारिज कर दूँगा कि "धर्म जनता के लिए अफीम है।"

अन्त में उसकी कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा आता है जहाँ उसने उस भावी समाज के बारे में लिखा है जिसकी रचना करने के लिये हम सभी लालायित हैं। लेकिन मैं शुरू में ही एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। 'ड्रीमलैंड' दरअसल एक यूटोपिया है। लेखक ने स्वयं इस बात को स्पष्ट रूप से शीर्षक में ही स्वीकार किया है। वह इस विषय पर कोई वैज्ञानिक शोधप्रबन्ध लिखने का दावा नहीं करता। लेकिन निस्सन्देह, यूटोपिया की सामाजिक प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सेण्ट साइमन, फूरिये, राबर्ट ओवेन और उनके सिद्धान्तों के अभाव में वैज्ञानिक मार्क्सवादी समाजवाद भी नहीं होता। लाला रामसरन दास की 'यूटोपिया' का भी उसी तरह से महत्त्व है। जब हमारा कार्यकर्त्ता अपने आन्दोलन के दर्शन को व्यवस्थित रूप देने और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का महत्त्व समझेगा, उस समय यह पुस्तक उसके लिये बहुत ही उपयोगी साबित होगी।

इस बात की ओर मेरा ध्यान गया है कि लेखक की अभिव्यक्ति की शैली अपरिष्कृत है। अपनी 'यूटोपिया' का वर्णन करते हुए लेखक वर्तमान समाज के विचारों से अछूता नहीं रह पाया है।

ज़रूरतमन्दों को दान देना

भविष्य के समाज में यानी कम्युनिस्ट समाज में जिसे हम बनाना चाहते हैं हम धर्मार्थ संस्थायें स्थापित करने नहीं जा रहे हैं, बल्कि उस समाज में न ज़रूरतमन्द होंगे न ग़रीब। न दान देने वाले। इस असंगति के बावजूद, इस प्रश्न को बड़े ख़ूबसूरत ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

लेखक ने समाज की जिस सामान्य रूपरेखा की चर्चा की है वह काफ़ी हद तक वैज्ञानिक समाजवाद जैसी ही है। लेकिन कुछ ऐसी भी चीज़ें पुस्तक में हैं जिनका विरोध या खण्डन करने, या और सटीक ढंग से कहें, तो जिनमें सुधार करने की ज़रूरत है। उदाहरण के तौर पर 427वें पद के नीचे के एक फ़ुटनोट में वे लिखते हैं कि सरकारी कर्मचारियों को अपनी रोजी कमाने के लिए प्रतिदिन चार घण्टे खेतों या कारख़ानों में काम करना होगा। लेकिन यह फिर एक काल्पनिक और अव्यावहारिक बात है। सम्भवत: आज की व्यवस्था में राजकर्मचारी जो अनावश्यक रूप से ऊँचा वेतन पाते हैं, यह बात उसी का प्रतिक्रिया की उपज है। वास्तव में बोल्शेविकों को भी यह मानना पड़ा था कि मानसिक श्रम भी उतना ही उत्पादक श्रम है जितना शारीरिक श्रम। और भविष्य के समाज में जब विभिन्न तत्वों के सम्बन्धों का समायोजन समानता के आधार पर होगा तो उत्पादक और वितरक दोनों को समान महत्त्व का दर्जा प्राप्त होगा। आप एक नाविक से यह उम्मीद नहीं कर सकते कि वह चौबीस घण्टे में एक बार जहाज चलाना रोक कर उतर जाये और रोजी कमाने के लिए चार घण्टे काम करने चला जाये, या एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला या अपना प्रयोग (काम) छोड़ कर अपना काम का कोटा पूरा करने खेत में चला जाये। दोनों ही अत्यन्त उत्पादक श्रम कर रहे हैं। समाजवादी समाज में एकमात्र इस अन्तर की आशा की जानी चाहिए कि मानसिक श्रम करने वाला शारीरिक श्रम करने वाले से श्रेष्ठ नहीं माना जायेगा।

नि:शुल्क शिक्षा के बारे में लाला रामसरन दास के विचार वाकई ध्यान देने योग्य हैं। रूस में समाजवादी सरकार ने बहुत कुछ उसी तरह के क़दम उठाये हैं।

अपराध के बारे में उन्होंने जो चर्चा की है, वह सचमुच सर्वाधिक विकसित चिन्तनधारा है। अपराध सर्वाधिक गम्भीर सामाजिक समस्या है जिसे हल करने में बहुत सतर्कता की ज़रूरत है। लेखक ने अपनी ज़िन्दगी का बड़ा हिस्सा जेल में बिताया है। उनके पास कुछ व्यावहारिक अनुभव हैं। एक स्थान पर उन्होंने 'हल्की मशक्कत, दरमियानी मशक्कत, सख्त मशक्कत' जैसे ठेठ जेल की शब्दावली का इस्तेमाल किया है। सभी दूसरे समाजवदियों की तरह वे सुझाव देते हैं कि दंड

का आधार प्रतिशोध के बजाय सुधार का सिद्धान्त होना चाहिये। न्याय व्यवस्था का निर्देशक सिद्धान्त दण्ड देना न होकर सुधारना होना चाहिए और जेलों का रूप वास्तविक नर्क के बजाय सुधारालयों का होना चाहिये। इस सम्बन्ध में पाठकों को रूसी जेल-व्यवस्था का अध्ययन करना चाहिए।

सेना की चर्चा करते समय उन्होंने युद्ध की भी चर्चा की है। मेरे विचार से उस समय विश्वकोशों में एक संस्था के रूप में युद्ध की चर्चा बहुत थोड़े पन्नों में रहेगी और युद्ध सामग्रियाँ संग्रहालयों की गैलरियों की शोभा बढ़ायेंगी, क्योंकि उस समाज में परस्पर-शत्रुतापूर्ण हित नहीं रह जायेंगे जो युद्ध को जन्म देते हैं।

ज़्यादा से ज़्यादा हम यह कह सकते हैं कि एक संस्था के रूप में युद्ध का अस्तित्व संक्रमण काल तक रहेगा। वर्तमान रूस के उदाहरण से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है। वहाँ पर इस समय सर्वहारा का अधिनायकत्व क़ायम है। वे समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। तब तक के लिये पूँजीवादी समाज से अपनी रक्षा के लिए उन्हें एक सेना रखनी पड़ रही है। पर उनके युद्ध-उद्देश्य भिन्न होंगे। हमारे स्वप्नलोक की जनता को साम्राज्यवादी योजनायें युद्ध के लिए प्रेरित नहीं करेंगी। युद्ध की ट्राफियों का अस्तित्व शेष नहीं रह जायेगा। क्रान्तिकारी सेनायें दूसरे देशों में वहाँ की जनता पर शासन करने के लिए या उन्हें लूटने के लिए नहीं बल्कि वहाँ के परजीवी शासकों को सिंहासनों से नीचे गिराने के लिए, वहाँ की जनता का ख़ून चूसने वाले शोषण को बन्द करने के लिए और मेहनतकश जनता को मुक्त करने के लिए जायेंगी। लेकिन हमारे जवानों को युद्ध के लिए उकसाने वाले पुराने राष्ट्रीय या जातीय विद्वेष का अस्तित्व नहीं रह जायेगा।

मुक्त चिन्तन करने वाले सभी लोगों के लिए, विश्व संघ की स्थापना सर्वाधिक लोकप्रिय और फ़ौरी उद्देश्य है। लेखक ने इस विषय पर अच्छी चर्चा की है और तथाकथित 'लीग ऑफ़ नेशन्स' की सुन्दर आलोचना की है।

571(572) वें पद के नीचे के एक फ़ुटनोट में लेखक ने साधन के प्रश्न की संक्षिप्त चर्चा की है। वह कहता है, "ऐसा राज्य शारीरिक हिंसात्मक क्रान्तियों द्वारा स्थापित नहीं हो सकता। यह समाज पर बाहर से थोपा नहीं जा सकता। यह अन्दर से विकसित होगा... इसकी प्राप्ति धीरे-धीरे क्रमविकास की प्रक्रिया द्वारा और जनता को ऊपर चर्चित लाइन पर प्रशिक्षित करके होगी", आदि। यह वक्तव्य अपने आप में असंगत नहीं है। यह सर्वथा सही है, लेकिन पूरी तरह व्याख्या न की जाने के कारण यह ग़लतफहमी या भ्रम पैदा कर सकता है। क्या इसका यह मतलब है कि लाला

रामसरन दास को बल प्रयोग के रास्ते की निरर्थकता का आभास हो गया है? क्या वे अहिंसा के पुरातनपन्थी समर्थक हो गये है? नहीं, इसका यह मतलब नहीं है।

आइये, इस बात की व्याख्या करें कि ऊपर उद्धृत बयान का क्या मतलब है? किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा क्रान्तिकारी इस बात को ज़्यादा अच्छी तरह समझते हैं कि समाजवादी समाज की स्थापना हिंसात्मक साधनों से नहीं हो सकती है बल्कि उसे अन्दर से प्रस्फुटित और विकसित होना चाहिए। लेखक इसके लिए एक मात्र अस्त्र के रूप में शिक्षा को अपनाने का सुझाव देता है। लेकिन हर आदमी इस बात को आसानी से समझ सकता है कि यहाँ की वर्तमान सरकार और दरअसल सभी पूँजीवादी सरकारें न केवल ऐसे प्रयासों की सहायता नहीं करेंगी बल्कि इसके विपरीत निर्दयतापूर्वक इसका दमन करेंगी। तब उसके 'क्रमिक विकास' से क्या उपलब्धि होगी? हम क्रान्तिकारी लोग सत्ता पर अधिकार करने और एक क्रान्तिकारी सरकार के गठन का प्रयास कर रहे है, जो जन-शिक्षा के लिये अपने सभी साधनों का इस्तेमाल करेगी जैसा कि आज रूस में हो रहा है। सत्ता पर अधिकार करने के पश्चात रचनात्मक कार्यों के लिए शान्तिपूर्ण तरीक़े अपनाये जायेंगे और बाधाओं को कुचलने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जायेगा। यदि लेखक का यही मतलब है तो हम उससे सहमत हैं और मुझे विश्वास है कि यही उसका मतलब है।

मैंने इस पुस्तक पर विस्तार से चर्चा की है। बल्कि मैंने उसकी आलोचना ही कर डाली है। लेकिन मैं पुस्तक में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नहीं कहने जा रहा हूँ क्योंकि उसका एक ऐतिहासिक मूल्य है। 1914-15 के क्रान्तिकारियों के यही विचार थे।

मैं विशेष तौर पर नौजवानों के लिए इस पुस्तक की ज़ोरदार सिफ़ारिश करता हूँ लेकिन एक चेतावनी के साथ, कृपया आँख मूँद कर अनुकरण करने के लिए इसे मत पढ़िये। इसे पढ़िये, इसकी आलोचना कीजिये, इस पर सोचिये और इसकी सहायता से अपनी समझदारी क़ायम करने की कोशिश करिये।

(जनवरी, 1931)

• • •

हर दिन प्रगतिशील, मानवतावादी साहित्य पाने के लिए

- देश-दुनिया की हर महत्वपूर्ण घटना पर मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण से लेख
- सुबह-सुबह प्रगतिशील कविता, कहानियां, उपन्यास, गीत-संगीत, हर रविवार पुस्तकों की पीडीएफ
- देश के महान क्रान्तिकारियों भगतसिंह, राहुल, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि का साहित्य पीडीएफ व यूनिकोड फॉर्मेट में

मजदूर बिगुल व्हाटसएप्प चैनल से जुड़ने के लिए अपना नाम और जिला लिखकर इस नम्बर पर भेज दें - 9892808704

वैकल्पिक नम्बर : 9619039793

फेसबुक पेज : fb.com/unitingworkingclass

टेलीग्राम चैनल : www.t.me/mazdoorbigul

क्रान्ति परिश्रमी विचारकों और परिश्रमी कार्यकर्ताओं की पैदावार होती है। दुर्भाग्य से भारतीय क्रान्ति का बौद्धिक पक्ष हमेशा दुर्बल रहा है, इसीलिए क्रान्ति की अत्यावश्यक चीज़ों और किये कामों के प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया जाता रहा। इसलिए एक क्रान्तिकारी को अध्ययन-मनन अपनी पवित्र ज़िम्मेदारी बना लेना चाहिए।

—भगतसिंह

राहुल
फ़ाउण्डेशन
मूल्य : रु. 5.00